

प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थों का परिचयात्मक अध्ययन

बीना यादव*

वेदों की प्रत्येक शाखाओं से सम्बन्धित होना ही प्रातिशाख्यों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है। माधवीया धातुवृत्ति में भ्वादिगण के अन्तर्गत 'शाखृ' धातु से शाखा शब्द की निष्पत्ति बताई गई है- "शाखायां शाखायां प्रतिशाखम्। प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्।" परम्परा से प्रातिशाख्यों को शिक्षा के अन्तर्गत माना जाता रहा है। कुछ आचार्य प्रातिशाख्य को व्याकरण के अन्तर्गत मानते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के उन्नीसवें अध्याय के अन्तिम सूत्र की व्याख्या में भी व्याकरण शास्त्र को ही प्रातिशाख्य का मूल बताया है। वस्तुतः प्रातिशाख्य न तो पूर्णरूप से व्याकरण है और न ही पूर्णरूप से शिक्षा। वास्तव में इसमें दोनों का समन्वय है। इसे व्याकरण का प्राचीन रूप माना जा सकता है, किन्तु शिक्षा से अलग नहीं। वाजसनेयि प्रातिशाख्य के 'वृद्धं वृद्धिः' सूत्र से जो कि प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर पठित है, की व्याख्या में उव्वट स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि प्रातिशाख्य में व्याकरण तथा शिक्षा दोनों का समावेश है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थ वैदिक संहिताओं के ध्वनि विषयक अध्ययन के कोष हैं। इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों के वैदिक शाखाओं से सम्बन्धित होने के विषय में दो प्रकार के मत मिलते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इन ग्रन्थों का सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा से न होकर कई शाखाओं से है, परन्तु यह धारणा उचित नहीं है। दूसरे मत के अनुसार इन ग्रन्थों का वेद की एक-एक शाखा से पृथक्-पृथक् सम्बन्ध है। यह मत अधिक उचित प्रतीत होता है। 'प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों की जितनी शाखाएं थीं उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ रहे होंगे। वेदों की कुल १२१ शाखाओं का उल्लेख मिलता है उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ होने चाहिए। वस्तुतः एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेदों की किसी एक ही शाखा से होता है और यही कारण है कि इन्हें "प्रातिशाख्य" नाम से अभिहित किया जाता है।

प्राचीनकाल में वेदाध्येता वैदिक मन्त्रों का मौखिक रूप से पाठ करके स्मरण रखते थे। वेद मन्त्रों का एक-एक अक्षर अत्यन्त पवित्र माना जाता है। यदि उसमें परिवर्तन हो जाये तो महान् अनर्थ हो सकता है। ब्राह्मण काल में मौखिक रूप से उच्चारण करके वेद मन्त्रों की रक्षा की जाती थी। कालान्तर में जब भारतीय बोल-चाल की भाषा का विकास हुआ तब वेदमन्त्रों की रक्षा करना, स्वर, उच्चारण-स्थान, मात्रा, अक्षर विभाजन इत्यादि विशिष्ट नियमों के बिना

कठिन हो गया। इस प्रकार वेदों के शुद्ध उच्चारण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों की रक्षा के लिए कालान्तर में प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि ग्रन्थों की रचना की गई। इस प्रकार विशेषतः वैदिक संहिताओं के रक्षार्थ प्रातिशाख्य ग्रन्थों का उद्भव हुआ।

वेदों की प्रत्येक शाखाओं से सम्बन्धित उनके बाह्य स्वरूप अर्थात् वर्ण, पद, स्वर, सन्धि एवं छन्द इत्यादि का सम्यक् ज्ञान हमें प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा ही सुलभ हो सकता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में कहा गया है कि वेद का अध्येता अर्थात् पूर्णज्ञाता वही हो सकता है जिसे गुरुत्व, लघुता, साम्य इत्यादि का पूर्णज्ञान हो। उपर्युक्त ज्ञान प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा ही सम्भव व सुलभ हो सकता है।

प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ है वेद की किसी शाखा विशेष से सम्बन्धित ग्रन्थ। इस प्रकार वेदों की जितनी शाखाएं रही होंगी उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी होने चाहिए, परन्तु आज जितनी शाखाएं उपलब्ध हैं उतने प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्प्रति निम्नलिखित प्रमुख प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं जिनका विवरण इस प्रकार है-

ऋग्वेद प्रातिशाख्य- यह ऋग्वेद का एकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य है। इसका सम्बन्ध मुख्यतया ऋग्वेद की शाकल शाखा से है। इसके रचयिता आचार्य शौनक हैं। इस ग्रन्थ में १८ पटल हैं। प्रथम पटल 'संज्ञा परिभाषा पटल' के नाम से प्रसिद्ध है। समे स्वर, व्यंजन, ह्रस्व, दीर्घ, स्वरभक्ति, रक्त, संयोग, नामि, प्रग्रह्य, रेफ आदि अनेक संज्ञायें तथा उनकी परिभाषाएं दी गई हैं और पदों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। द्वितीय पटल 'संहिता पटल' है जिसमें पदान्तीय तथा पदादि स्वरवर्णों में होने वाली स्वर सन्धियों का विवेचन है। तृतीय पटल 'स्वर पटल' है जिसमें संहितागत उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का स्वरूप तथा सन्धिज स्वरों का विचार किया गया है। शेष पटल में व्यञ्जन सन्धि, नतिभाव, विभिन्न अवस्थाओं में ह्रस्व वर्णों के दीर्घभाव, क्रमपाठ, वर्ण से सम्बन्धित विवेचन एवं वर्णों के उच्चारण सम्बन्धी दोषों का विवेचन है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य- यह शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ है जो कात्यायन कृत है। यह प्रातिशाख्य शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओं के स्वर एवं वर्णोच्चारण विषयक समग्र जानकारी प्रदान करता है। वाजसनेयि की संहिता के स्वर एवं संस्कार का विवेचन प्रस्तुत करना इसका मुख्य विषय है। इसमें आठ अध्याय हैं जिनमें क्रमशः वर्णों के उच्चारण में त्रिविध विकारों का उल्लेख है जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के स्वरूप का बोधक है। इसके सूत्रों की न्यूनतम संख्या ७२५ एवं उच्चतम संख्या ७४० है। इनमें जिन संज्ञाओं की परिभाषा दी गयी है वे हैं- वर्ण, उपधा, इति, स्वर, नति, सवर्ण, सिम, सन्ध

*शोधच्छात्रा संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

यक्षर, कादि, संयोग, जित, मुत, धि, सोष्म, ङ्स्व, मात्रा, दीर्घ, प्लुत, जिह्वामूल, तालु, मूर्धा, आगम, लोप, आम्रेडित, अपृक्त, संहिता, रिफित।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य- तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध है। यह प्रातिशाख्य दो प्रश्नों में, दो खण्डों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में बारह अध्याय है। इस प्रकार इस प्रातिशाख्य में २८ अध्याय हैं। सूत्रों की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य ऋक् प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि प्रातिशाख्य से छोटा है। इस प्रातिशाख्य में ५४७ सूत्र हैं। इसमें विषयवस्तु का प्रतिपादन अत्यन्त ही वैज्ञानिक रीति से किया गया है।

शौनकीय चतुरध्यायिका- यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बन्धित है। यह प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है। चार अध्यायों में विभक्त होने के कारण ही इसको चतुरध्यायिका कहा जाता है। यह ग्रन्थ सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। सूत्रों की कुल संख्या ४३४ है। इसके प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रातिशाख्य १६ पादों में विभक्त है।

ऋक्तन्त्र- यह प्रातिशाख्य सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित है। इसके रचयिता आचार्य शाकटायन अथवा औदब्रजि हैं। यह प्रातिशाख्य अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति सूत्र रूप में है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच प्रपाठक हैं तथा सूत्रों की संख्या २८७ है।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य- यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बन्धित है। इस प्रातिशाख्य में निम्नलिखित दो पाठ मिलते हैं - लघु पाठ तथा बृहत् पाठ। इस प्रातिशाख्य के लघु पाठ में उपलब्ध सूत्रों की संख्या २२३ है तथा बृहत् पाठ में उपलब्ध सूत्रों की संख्या ३२४ है। इन दोनों पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि इसका लघु पाठ बृहत् पाठ पर ही आधारित है। इस प्रातिशाख्य में प्रातिशाख्य सम्बन्धी कुछ ही विषय प्रतिपादित हैं, जैसे- सन्धि, स्वर, पदपाठ के नियम आदि।

इसके अतिरिक्त वाष्कल प्रातिशाख्य, शांखायन प्रातिशाख्य, आश्वलायन प्रातिशाख्य इत्यादि को भी कतिपय विद्वान प्रातिशाख्य मानने के पक्ष में हैं किन्तु उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मुख्यतया तथा ये छः प्रमुख प्रातिशाख्य ग्रन्थ हैं। वस्तुतः वेदों की मौखिक उच्चारण परम्परा को त्रुटिरहित बनाये रखना एवं उसकी समग्र विशेषताओं को पूर्णतया सुरक्षित रखना ही प्रातिशाख्यों का मूल प्रयोजन है। वैदिक संहिताओं की रक्षा में प्रातिशाख्य ग्रन्थों का स्थान सर्वोपरि है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य तत्सम्बद्ध संहिताओं के परम्परागत उच्चारण की अक्षुण्णता बनाये रखना एवं उनके बाह्य स्वरूप को दृढ़ करना है।

सन्दर्भ :

- वर्मा, वीरेन्द्र कुमार (१९७०). ऋग्वेद प्रातिशाख्य. वाराणसी : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
- वर्मा, वीरेन्द्र कुमार (१९७५). वाजसनेयि प्रातिशाख्य. वाराणसी : ज्ञान प्रकाश प्रतिष्ठान।
- विश्वबन्धु (१९६०). अथर्ववेद. होशियारपुर : वैदिक शोध संस्थान।
- शर्मा, प्रो. वेंकटराम (१९८२). तैत्तिरीय प्रातिशाख्य. नई दिल्ली : पाणिनी।
- शास्त्री, डॉ. मंगलदेव (१९५६). ऋग्वेद प्रातिशाख्य. वाराणसी : वैदिक स्वराध्याय मण्डल।
- शास्त्री, श्री धरानन्द (१९७०). लघु सिद्धान्त कौमुदी. दिल्ली : मोती बनारसीदास।
